# सिनेमा के लिए साहित्य बोध की आवश्यकता

**डा0 भावना,**

*अंग्रेजी हिन्दी अनुवाद पाठ्यक्रम,*
*हिन्दी विभाग दिल्ली विवि*

---

फिल्म रूपांतर के लिए बहुविध विकल्पों को चेतन और अचेतन रूप से चयन, कटौती, विस्तार, संकेन्द्रण और निष्कासन के सिद्धांतों का प्रयोग किया जाता है। ये सिद्धांत निर्देशकों, निर्माताओं और दृश्यपटकथाकार के दृष्टिकोण पर ही आधरित नहीं है वरन सांस्कृतिक और ऐतिहासिक स्थिति के अनुरूप भी निर्मित हैं। सिनेमा साहित्य की उपेक्षा नहीं कर सकता। साहित्य उसके लिए 'मेरूदंड' की तरह है, जिस पर उसका ढाँचा खड़ा रहता है। यहाँ यह बात अवश्य है कि सिनेमा किसे अपना साहित्य समझता है, किसे नहीं। जरूरी नहीं कि फिल्मकार की साहित्य संबंधी यह समझ एक साहित्यिक आलोचक की समझ से मेल खाती हो। कहानी कहने की विशेषता के बिना कहानियों का कोई अस्तित्व नहीं है। इस मुद्दे पर कमोबेश सारे आख्यानविज्ञानी एक मत हैं, परंतु फिल्म उपन्यास या अन्य साहित्यिक विधा से इस मामले में अलहदा है कि यह कार्य को बताने या कहने के बजाय दिखा सकती है। साहित्य में जहाँ साहित्यकार विभिन्न पक्षों से प्रभावित होता हुआ साहित्यिक रचना करता है वहीं सिनेमा निर्देशक उस साहित्यिक कृति को मूल रूप में रखते हुए ऐसा नया रूप देता है कि जिससे वह जीवंत और प्राणवान हो उठती है। और ऐसा हुआ है कि कई उपन्यासकारों की कृतियाँ साहित्य रूप में उतने लोगों तक नहीं पहुँच पाई जितने कि सिनेमा माध्यम से। किसी कृति को सिनेमा के रूपांतर के योग्य बनाने की दृष्टि से तीन बातें प्रमुख हैं–[प]

1. हालांकि सिनेमा मूलतः फिल्म निर्देशक की विधा है, फिर भी यह एक 'सामूहिक विधा' है। इसे मूर्तरूप देने में संवाद लेखक, गीतकार, संगीत निर्देशक, छायाकार, यहाँ तक कि संपादक की अपनी–अपनी भूमिकाएँ होती हैं, बावजूद इसके कि ये सभी निर्देशक की इच्छा के अनुकूल ही अपना–अपना काम करते हैं। केवल इतना ही नहीं, बल्कि नायक–नायिका की अपनी सामाजिक–सांस्कृतिक पृष्ठभूमि भी अभिनीत चरित्र पर अपना अप्रत्यक्ष प्रभाव डालती है।

2. कला की अन्य सभी विधाओं का एक निश्चित दर्शक वर्ग होता है, जबकि सिनेमा का नहीं वह एक साथ सबकी विधा होती है–युवा–वृद्ध, शिक्षित–अशिक्षित, ग्रामीण–शहरी आदि। सिनेमा को यह देखना होता है कि वह एक साथ इन विथ्भिन्न पृष्ठभूमिवाले बैठे हुए दर्शको को रूचिकर लग सके।

3. यह सबसे महंगी कलात्मक विधा है। इस पर इतनी अधिक लागत आती है कि किसी भी सर्जनात्मक प्रतिभावाले फिल्मकार के लिए यह संभव नहीं होगा कि वह लगातार ऐसी फिल्में बनाता रहे, जो बहुत घाटा दे रही हों। उसे इतना तो देखना ही होता हे कि अंततः उसकी लागत तो वापस आ ही जाए।

फिल्म के लिए किसी भी कहानी का चयन करते समय, तथा चयन के बाद उसका फिल्मीकरण करते समय उपरोक्त सारी बातें निर्माता–निर्देशक के मन में रहती हैं। सत्यजीत रे ने विभूतिभूषण बंदोपाध्याय के उपन्यास का अपनी फिल्म 'पाथेर–पांचाली' के लिए चयन किया। श्याम बेनेगल ने ध्र्मवीर भारती के उपन्यास *सूरज का सातवां घोड़ा* पर फिल्म बनाई। सत्यजित राय ने सबसे ज्यादा साहित्यिक कृतियों पर फिल्म बनाई। प्रेमचंद के *गोदान, शतरंज के खिलाड़ी, मिल मजदूर, सद्गति* पर फिल्म बनी तो रेणु के *मैला आंचल* पर डाक्टर बाबू, *तीसरी कसम पर* तीसरी कसम नाम से फिल्में बनाई गई। और तो और प्रख्यात फिल्मकार मृणाल सेन ने प्रेमचंद की सुप्रसिद्ध्र कहानी 'कफन' को तेलुगु भाषा में बनाकर भाषा के अंतर को भी पाट दिया। अमृता प्रीतम के उपन्यास *पिंजर* पर चंद्रप्रकाश द्विवेदी की 'पिंजर' फिल्म आई। मुक्तिबोध की कहानी 'सतह से उठता आदमी', उदय प्रकाश की कहानी पर बनी फिल्म 'उपरांत', तथा योगेश गुप्त के उपन्यास पर आधरित 'अंतहीन' नहीं चली। मन्नू भंडारी की कहानी *लेकिन यह सच है* पर 'रजनीगंधा' फिल्म बनी। मन्नू भंडारी की ही एक और कहानी *आकाश के आईने मे* पर भी 'जीना यहाँ' शीर्षक से बनी फिल्म को दर्शकों ने पसंद नहीं किया। विजयदान देथा की कहानी *दुविधा* पर 'पहेली' फिल्म बनी। गिरीश कर्नाड ने शूद्रक के संस्क्त नाटक *मृच्छकटिकम्* पर 'उत्सव' फिल्म बनाई। गुलजार ने समरेश बसु की *पथिक* पर 'किताब', *अकाल बंसत* पर 'नमकीन' और शरद बाबू की *पंडित मोशाय* पर 'खुशबू' फिल्म बनाई। गुलजार ने कमलेश्वर की कृति पर 'आंधी' और 'मौसम' भी बनाई। उपरोक्त फिल्में भारतीय परिवेश पर आधरित कृतियों पर आधरित थी परंतु विदेशी परिवेश पर लिखे शेक्सपियर के उपन्यासों *मैकबेथ* और *ऑथेलो* पर 'मकबूल' और 'ओमकारा' के नाम से जैसा देसी फिल्मी रूपांतर विशाल भारद्वाज ने किया वह अद्भुत है। भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'चित्रलेखा' पर बनी फिल्म भी सफल रही। मराठी रचनाकार एस0 डी0 पानवलकर की लघु कथा 'सूर्य' पर आधरित कामयाब फिल्म 'अर्धसत्य' के पात्र हिन्दी सिनेमा में अमर हो गए। आर. के. नारायण के उपन्यास पर बनी 'गाइड' ने भी अपार सफलता हासिल की। राजेन्द्र यादव के लघु उपन्यास *सारा आकाश,* मोहन राकेश की कहानी *उसकी रोटी* पर मणि कौल ने फिल्म बनाई, निर्मल वर्मा की कहानी पर मायादर्पण फिल्म बनी। देवदास पर सर्वाधिक भारतीय भाषाओं में फिल्में बनी। शरतचन्द्र सर्वाधिक फिल्माए गए उपन्यासकार हैं। विमल राय, संजयलीला भंसाली और अनुराग कश्यप ने अपनी शैली में देवदास को हिन्दी फिल्म में उतारा। एक बार स्वयं गुलजार ने भी देवदास पर फिल्म बनाने की इच्छा जताई थी, पर वे फिल्म को शुरू नहीं कर सके। गुलजार साहित्यिक कृतियों के फिल्मांकन के बारे में अपनी राय रखते हैं:–[पप]

> *''बॉक्स ऑफिस पर कोई फिल्म सफल होगी या नहीं, इस बात के लिए कोई फार्मूला तय नहीं किया जा सकता। पहले से कोई भविष्यवाणी कर पाना मुश्किल होता है–खास तौर पर साहित्यिक कृतियों पर बनी फिल्मों के बारे में। साहित्यिक कृतियों पर बनने वाली फिल्मों को हम सिर्फ अच्छी या बुरी कह सकते हैं... मैंने भी अपनी फिल्मों को कभी सफलता या विफलता की तराजू में नहीं तौला। इन फिल्मों को बनाते समय दृष्टि मेरी अपनी ही रही है और मैं अपनी दृष्टि के बारे में बहुत स्पष्ट हूं कि वह व्यावसायिक नहीं है।''*

अधिकांश लेखकों की शिकायत रही है कि फिल्म में उनकी कृति को पूरी निष्ठा से उतारा नहीं गया है या उसको विद्रूपित रूप में पेश किया गया या कृति का सम्यक् प्रस्तृतिकरण न करके अन्याय किया गया है। वे अक्सर भूल जाते हैं कि

फिल्म और साहित्य दो माध्यम हैं और किसी साहित्यिक कृति में वर्णित दृश्य–सा चरित्र को पढ़ना और उसे परदे पर देखना जहाँ अलग–अलग अनुभव हैं, वहीं लेखन और फिल्मांकन का तौर–तरीका भी अलग–अलग होता हे। इस फर्क को समझने के लिए साहित्य और सिनेमा के विधागत स्वभाव के अंतर को ध्यान में रखना होगा। इन दोनों विधाओं में सबसे महत्वपूर्ण अंतर समय के साथ इनके रिश्ते से है। हम किताब को किसी शब्द पर ठहरकर, पन्ने उलट–पलटकर, आगे–पीछे कहीं से भी पढ़ सकते हैं। वीडियो और सीडी पर रिवांइड करने के बावजूद भी फिल्म की गत्यात्मकता की प्रकृति ऐसी होती है कि एक सेंकड में 24 फ्रेम हमारी दृष्टि पर कब्जा कर दृश्य रचना करते हैं।

इसी तरह इन दोनों में एक अंतर यह है कि जब एक पाठक कृति को पढ़ता है तो शब्द जगत उसके मनोजगत में एक नए संसार की रचना करते हैं जो कि नितांत वैयक्तिक किस्म का संसार होता है। वह उन शब्दों से अपने मन में चरित्र या दृश्य के बिंब–छवियों को गढ़ता है। इस तरह 'सबके अपने–अपने राम' वाली स्थिति होती है। दो पाठक एक ही कृति को पढ़कर एक ही चरित्र की अलग–अलग प्रकार से कल्पना कर सकते हैं लेकिन फिल्म के राम मानस के *जाकी रही भावना जैसी* के अनुरूप नहीं होगी बल्कि वह अरूण गोविल की छवि के रूप में स्थिर हो जाएगी। इस प्रकार फिल्म पाठक की कल्पना की उड़ान को सीमित कर के उसे छवि की सागर–राशि में निमग्न कर देती है।

साहित्य और फिल्म की भाषा में भी अंतर है। फिल्म मूलतः दृश्य भाषा का सहारा लेती है। उसमें किसी वस्तु के बारे में न बताकर उसे प्रत्यक्षतः दिखाया जाता है। मसलन अगर कहीं पर फूल दिए जा रहे हैं तो सीध फूल को दिखाया जाएगा बल्कि यह भी स्पष्ट हो जाएगा कि किस प्रजाति का पुष्प है। जबकि साहित्य में अगर फूल का उल्लेख किया गया तो उससे केवल उस भाषा को जानने वाले को ही उसका भान होगा। जो व्यक्ति उस भाषा का जानकार न हो तो वह समझ नहीं सकेगा कि फूल किस वस्तु को कहा जा रहा है, परंतु फूल को पर्दे पर दिखाए जाने पर उसे कोई भी देखकर समझ जाता है। इसलिए फिल्म की आवाज बंद करके भी फिल्म को काफी हद तक समझा जा सकता है।

सुप्रसिद्ध भारतीय निर्देशक श्याम बेनेगल उपन्यास और सिनेमा की परिसीमाओं की बात करते हुए मानते है कि *जब आप कोई उपन्यास, पुस्तक पढ़ते हैं या लिखते हैं तब यही होता है कि उसमें आपके मन के लिए पीछे की ओर या आगे की ओर जाने की गुंजायश होती है। व्यक्ति का बिंब पाठक होता है और वह इच्छानुसार पीछे की ओर तथा आगे की ओर जा सकता है क्योंकि वह समय से, वास्तविक समय से और बिम्ब के भीतर के समय से उस ढंग से बंधा नहीं होता जिस ढंग से आप फिल्म में बंधे हुए होते हैं। ये सिनेमा की विलक्षण परिसीमाएं हैं और इसलिए जब हम इस बात पर चर्चा करते हैं कि सिनेमा क्या करने में सक्षम है तो बहुआ आप यह कहावत जान लें कि कभी भी कोई अच्छा उपन्यास न लें और उस पर फिल्म न बनाएं क्योंकि आप उस उपन्यास का सत्यानाश कर देंगे और आप एक बुरी फिल्म बनाएंगे। किंतु आप किसी बहुत बुरे उपन्यास को ले सकते हैं और उसके सहारे एक उत्कृष्ट फिल्म बना सकते हैं। जब मैं बुरे उपन्यास की बात करता हूं तो मेरा तात्पर्य ऐसे उपन्यास से होता है जिसमें इन तत्वों में से कोई तत्व नहीं होता। आप बहुत सीधी–सादी कहानियाँ ले सकते हैं और वे कभी–कभी अत्यंत सुंदर फिल्म बन जाती हैं किन्तु यदि आप जटिल कहानियाँ लेंगे तो आप बहुत बुरी फिल्म बनायेंगे। सिनेमा ने कुछ दिलचस्प काम किया है। जब आप यह समझ लेते हैं कि सिनेमा की अमुक–अमुक समस्याएं हैं तो आप सिनेमा की*

*उन परिसीमाओं का उपयोग साहित्य में कर सकते हैं। आज बहुतेरे लेखक, बहुधा सिनेमा की तकनीकों का उपयोग करते हैं और जिस पद्धति से फिल्म निर्माता फिल्म बनाते हैं उसी पद्धति से वे उपन्यास लिखना शुरू कर देते हैं। यह एक असाधारण बात है क्योंकि हम यह पाते है कि जिन युक्तियों और तकनीकों का उपयोग साहित्य में किया जा सकता है उन युक्तियों और तकनीकों को लेना और सिनेमा में उनका उपयोग करना बहुत कठिन होता है। यह काम आसान नहीं है। आप अकस्मात इसे कठिन पाते हैं क्योंकि जैसे ही आप कुछ करना प्रारंभ करते हैं वैसे ही वह बहुत कुछ शाब्दिक हो जाता है। आप चाहें जो भी करें कतिपय शाब्दिकता फिल्म से चिपकी हुई प्रतीत होती है। मेरा विचार है कि अधिकांश लोग फिल्म के क्षेत्र में आना कठिन पा रहे है। शायद अगले पांच वर्ष में सिनेमा को आरंभ हुए सौ वर्ष हो चुके होंगे, फिर भी हम सिर्फ चलना सीख रहे हैं। इसकी वजह यह है कि यह माध्यम स्वयं को उस ढंग से अभिव्यक्त नहीं कर पाया है जिस ढंग से कला के अनेक रूप स्वयं को अभिव्यक्त कर पाये हैं।*[पपप]

फिल्म में दृश्य कला दो चीज़ों पर निर्भर करती है– कम्पोजिशन और माइसेनसीन जिसका अर्थ है किसी प्रेम में लोग और वस्तुएँ किस प्रकार एक परस्पर संबंध और विवरणों की बारीकियां के तहत एक साथ रखी जाती हैं और जो इन संबंधों को अग्रगामिता प्रदान करती है। फ्रांसीसी पदावली माइसेनसीन का अर्थ है ''मंच पर रखना'', जो रंगमंच में सभी दृश्य तत्वों के व्यवस्थापन को संदर्भित करता है। किसी फिल्म में यह एक वृहत् पदावली के तौर पर इस्तेमाल की जाती है जिसके अंतर्गत फिल्म के विथ्भिन्न तत्व जैसे कैमरे की दूरी, कैमरे के कोण, लेंस, प्रकाशव्यवस्था और साथ ही व्यक्ति और वस्तु की परस्पर संबंधों के तहत अवस्थिति निर्धारण शामिल किए जाते हैं। इसी प्रकार उपन्यास में एक प्रकार से लेखक की महत्वाकांक्षा और वस्तु, लोग और घटनाओं और वस्तुओं की गति ध्वन्यात्मक मूल्यों के द्वारा अभिव्यक्त होती है। जबकि किसी सर्वश्रेष्ठ फिल्म का उद्देश्य तत्वों का किसी दृश्य में कलात्मक संघटन होता है या ऐसे दीर्घजीवी दृश्य को रचना है जो हमें कम परेशानी के साथ अधिकाधिक देखने में सहायता करता है और गहरी अनुभूतियाँ जो बतौर 'देखने योग्य कल्पना' उपन्यास लेखक की आत्म–स्वीकृति होती हैं, स्थितियों और किरदारों को बनाती हैं और विषय को बनाने के लिए संघनित करने का प्रयास हैं। हेनरी जेम्स के शब्दों में, *'वस्तुओं की दृश्यता, वह दृश्यता जो अपने अर्थ को संप्रषित करती है... वह रंगों, राहतों, अभिव्यक्तियों, सतह, मानवीय दृष्टव्यता के तत्वों को पकड़ने के लिए वह लिखित पृष्ठों पर दर्शाता है''।*

एक अच्छी फिल्म एक बेहतरीन उपन्यास के पढ़ने का–सा आनंद देती है तो वहीं एक बेहतरीन उपन्यास अपनी चित्रमयता के कारण फिल्म की–सी आनंदानुभूति प्रदान करता है। गति, प्रवाह और चित्रमत्ता विधाओं के परस्पर संवाद की गुंजाइशों के लिए जगह बनाती हैं। इसी प्रकार उपन्यासकार रॉबर्ट नाथन किसी फिल्म की औपन्यासिक विशेषताओं की ओर संकेत करते हैं–[पअ]

*''फिल्म में उपन्यास की अन्य विशेषताएं होती हैं, इसकी व्यापकता में वे स्थल भी आते हैं जहाँ ये आनंदित करती है, यह एकल चरित्र की प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करती है, यह विवरणों और मूड को भी दिखाती है, यह कैमरे का अनुसरण करती है। लांग शॉट्स और क्लोज अप, ट्रैकिंग शॉट्स और डिजाल्व्ज के विपरीत आप प्रत्येक उपन्यास में लेखक के एक दृष्टिकोण को पाएंगे, लेकिन वे आपको शब्दों में मिलेंगे जो आपके कानों को संबोध्ति होते हैं बजाय आँखों को संप्रेषित की जाने वाली फिल्म की छवियों के।''*

फिल्मकार के लिए साहित्य दीक्षित होने की अनिवार्यता नहीं है किंतु साहित्य बोध की जरूरत से इनकार नहीं किया जा सकता। तभी तो वह यह जानने के काबिल होगा की अमुक रचना की सामाजिक लोकमानस में प्रतिष्ठा कैसी है और उसकी संवेदनाओं से न्याय की आवश्यकता की हदें क्या हैं? फिल्मकार की साहित्य से संबद्धता की आवश्यकता के सवाल पर श्याम बेनेगल कहते हैं[अ]–

*''मैं यह नहीं समझता कि किसी फिल्म निर्माता के लिए साहित्य में रूचि रखना आवश्यक है। इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। आप फिल्म की किसी संकल्पना के प्रति निर्देश कर रहे होते हैं। जब आप कुछ कहते हैं कि फिल्म से मनोरंजन करना होता है, तो मनोरंजन करने का अर्थ यह होता है कि वह दर्शक वर्ग को मग्न रखे। मैं इस बात से सहमत हूँ कि मुझे दर्शक वर्ग को मग्न रखना चाहिए। यदि, मैं जो कुछ कर रहा हूँ उस के प्रति आपकी रूचि न हो तो क्या मैं स्वयं अपनी रूचि के लिए वह सब कर रहा हूँ? इसलिए होता यह है कि उसे स्वयं आपके परे जाना होता है। इसलिए ऐसा करते समय आपका कार्य लोगों को रूचिकर लगना चाहिए।''*

हिन्दी सिनेमा को शरतचंद्र ने तो हॉलीवुड को शेक्सपीयर ने सदैव प्रभावित किया है। शेक्सपीयर की सभी नाट्यकृतियां फिल्मी पर्दे पर अवतरित हो चुकी है। *हैमलेट* के अब तक पचासों संस्करण आ चुके हैं। कथाकार चेखव और ओ हेनरी की कहानियों पर भी तमाम फिल्में बनी है। उनकी सुप्रसिद्ध कहानी 'द लास्ट लीफ' को विक्रम मोटवानी 'लुटेरा' फिल्म में प्रेम कहानी के रूप में पेश किया। फिल्म निर्माताओं का एक वर्ग ऐसा भी है जो हमेशा ऐसी विश्व की कालजयी रचनाओं की तलाश में रहता है जिन पर व्यावसायिक रूप से सफल फिल्मों का निर्माण किया जा सके और जिनकी और व्यापक जनसमुदाय को आकृष्ट किया जा सके। संगीतकार से निर्देशक बने विशाल भारद्वाज ने ब्रिटिश नाटककार शेक्सपीयर की कृतियों में अपने लिए उपयुक्त कथानक की तलाश की। सबसे पहले *मैकबेथ* पर 'मकबूल' और तदुपरांत *ऑथेलो* पर 'ओमकारा' फिल्म बनाई। उन्होंने रस्किन बॉन्ड की कृति पर बाल फिल्म 'द ब्ल्यू अम्ब्रेला' का भी निर्माण किया। उनकी रूपांतरित फिल्मों की खासियत यह है कि वे पश्चिम की रचनाओं का इस तरह भारतीयकरण करते हैं कि वह दर्शकों को विश्वसनीय लगता है। शेक्सपीयर के प्रति अपने लगाव को स्पष्ट करते हुए विशाल भारद्वाज इस संबंध में कहते हैं[अप]:–

*''मैं शेक्सपीयर के लेखन से हमेशा प्रेरित रहा हूं। कहानी को बयान करने की उनकी शैली सबसे जुदा है। मुझे लगता है कि इन रचनाओं का भारतीयकरण करके दिखाना जरूरी है और यही काम मैं कर रहा हूं। चूंकि साहित्य भी अभिव्यक्ति का एक माध्यम है, इसलिए सिनेमाई भाषा का एक साथ मिलने के बाद उसमें व्यक्त विचार और प्रखर रूप में सामने आते हैं। जब आप किसी साहित्यिक कृति पर फिल्म बनाते हैं, तो उस कृति में नाटकीय तत्वों की प्रधानता के कारण उसके फिल्मीकरण की दिशाएं खुल जाती हैं और एक फिल्मकार इन्हीं संभावनाओं की तलाश में रहता है। चूंकि फिल्म की पटकथा व्यावसायिक लक्ष्यों को ध्यान में रखकर लिखी जाती है, इसलिए उसमें कई ऐसे फॉर्मूलों का समावेश भी किया जाता है, जो प्रचलित लोकप्रिय सिनेमा के अंग माने जाते हैं। शायद इसी वजह से साहित्यिक कृतियों के फिल्मीकरण के प्रयास अक्सर सफल भी रहे हैं।''*

कुछ फिल्मकार अपनी प्राथमिकताओं के चलते मूल कहानी से छूट लेते हैं लेकिन कई बार ऐसा होता है फिल्मकार द्वारा कृति की मूल संवेदनाओं के संरक्षण के भरसक प्रयत्नों के बावजूद उनहें फिल्म–माध्यम की आत्यन्तिक

जरूरतों को पूरा करने की वजह से उन्हें कथा में किंचित परिवर्तन करने पड़ते हैं। सत्यजित राय का साहित्य प्रेम जगत विख्यात है, इसके बावजूद उन्हें भी पटकथा लेखन के दौरान फिल्म–भाषा की जरूरत के अनुसार मूल कृति से कई प्रकार की रियायत की जरूरत पड़ी। उनका मानना था कि पटकथा लिखने की प्रक्रिया में उसकी कथावस्तु परिवर्तित हो जाती है,लेकिन अधिकांश मूल तत्व सुरक्षित रहते हैं। कई बार कहानी को पढ़कर ऐसा लगता है कि असल जिंदगी में अमुक पात्र ऐसा व्यवहार नहीं करता है तो उसे विश्वसनीय बनाने के लिए कुछ परिवर्तन करना पड़ता है। दरअसल कृति में परिवर्तन को मुद्दा बनाने के बजाय इस बात पर चर्चा होनी चाहिए कि फिल्म अपने उद्देश्य में कितनी सार्थक रही है। एक और बात, अक्सर लोग फिल्म और कहानी की तुलना करते हुए यह सवाल दागा करते हैं कि फिल्म और कहानी में से कौन बेहतर है? दोनों अपनी–अपनी विधाओं में अपनी खूबियों–खामियों के साथ अपनी–अपनी जगह पर होती हैं। उन्हें उनकी विधागत आलोचना–समीक्षा या फिल्म समीक्षा या फिल्म आस्वादन के आधर पर तो उनकी मूल्यवत्ता और अर्थवत्ता की जांच हो सकती है परंतु दोनों में तुलना करना बेमानी–सी बात है। अनुवाद के साथ भी अक्सर यही किया जाता है। उसमें भी मूल कृति और अनूदित कृति की तुलना की बात अक्सर की जाती है तो वहाँ पर अर्थ की समतुल्यता की बात की जाती है। इसी तरह फिल्म और कहानी में अंतर्वस्तु के साम्य और वैषम्य को जांचा जा सकता है, परंतु दोनों की आपसी प्रतिस्पर्धा के द्वारा किसी एक को दोयम दर्जे का सिद्ध करके विधा विशेष का अवमूल्यन करने का अधिकार हमें कतई नहीं है।

Copyright © 2016 *Dr. Bhawna*. This is an open access refereed article distributed under the Creative Common Attribution License which permits unrestricted use, distribution and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited.

---

[i] विजय अग्रवाल, सिनेमा की संवदेना, ;प्रतिभा प्रतिष्ठान नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1995, पृ0 136

[ii] *सिने पत्रकारिता*, श्याम माथुर, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2008, पृ0 149

[iii] सिनेमा ओर साहित्य, हरीश कुमार, संजय प्रकाशन, दिल्ली,1998, पृ0 15–16

[iv] Somdatta Mandal, Film and Fiction: Word into Image ,Rawat Publication, 2005, P-16

[v] सिनेमा ओर साहित्य, हरीश कुमार, संजय प्रकाशन, दिल्ली,1998, पृ0 20

[vi] श्याम माथुर, *सिने पत्रकारिता*, ;राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी जयपुर, 2008, पृ0 151